दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक बारहवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

चैत्र
२४७९

महान उपदेश

तीन काल-तीन लोक में जीव को सम्यग्दर्शन के समान कल्याणरूप अन्य कोई पदार्थ नहीं है; सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जितना करे, तथापि किंचित् कल्याण नहीं होता। सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही सम्यक्चारित्र होता है। मिथ्याश्रद्धा के समान अन्य कोई शत्रु नहीं है और सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई हितरूप नहीं है। बाह्यदृष्टि लोगों को सम्यग्दर्शन की महिमा ख्याल में नहीं आती। अहो! आत्मा के पूर्ण प्रयत्न से शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की पहिचान करके सम्यग्दर्शन करना ही सर्वज्ञभगवान का—संतों का महान उपदेश है। अपने सर्वस्व उपाय और उद्यम से मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व प्रगट करना चाहिए—ऐसा श्रीगुरु का उपदेश है।

—प्रवचन से

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१६

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

''द्रव्यदृष्टि वही सम्यग्दृष्टि''

''द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि है;''

''पर्यायमूढ़, वह पर-समय है।''

जिसकी दृष्टि शुद्ध द्रव्य पर है, वह सम्यग्दृष्टि है, और जो पर्याय को लक्ष में लेकर उसी को पूर्ण आत्मस्वरूप मानता है, वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि का विषय क्या है और पर्यायदृष्टि का विषय क्या है ?

द्रव्यदृष्टि का विषय—द्रव्य शुद्ध, अभेद, प्रधान, निश्चय, सत्यार्थ, भूतार्थ, परमार्थ है।

पर्यायदृष्टि का विषय—पर्याय अशुद्ध, भेद, गौण, व्यवहार, असत्यार्थ; अभूतार्थ, उपचार है।

''ज्ञायकस्वभाव, वह मैं हूँ''—ऐसी शुद्ध स्वभावदृष्टि प्रगट किए बिना यदि पर्याय की मलिनता जानने को जायेगा तो ''राग ही मैं हूँ''—ऐसी एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व होगा; क्योंकि स्वभाव में एकत्वबुद्धि नहीं है; इसलिये विकार में एकत्वबुद्धि हुए बिना नहीं रहेगी। जिसप्रकार वास्तव में निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता, उसीप्रकार शुद्ध द्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का यथार्थज्ञान नहीं होता। 'ज्ञायकस्वभाव, वह मैं हूँ'—ऐसी वीतरागी दृष्टि हुए बिना ज्ञान, राग को नहीं जान सकता। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने के पश्चात्, राग को जानने से ज्ञान उसके साथ एकाकार नहीं होता, परन्तु भिन्न रहकर ही जानता है; वह ज्ञान प्रतिक्षण स्वभाव में एकतारूप और राग से भिन्नतारूप ही परिणमित हो रहा है—इसका नाम भेदज्ञान है और यह अपूर्व धर्म है। शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि से ही ऐसे अपूर्व आत्मधर्म का प्रारम्भ होता है।

[— श्री समयसार गाथा ६ के प्रवचन से]

आत्मधर्म

चैत्र २४७९ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक बारहवाँ

मानस्तंभ की मंगल-भेरी

(अहो! जैनधर्म का वैभव!)

[सुवर्णपुरी तीर्थधाम में ज्येष्ठ कृष्णा सप्तमी संवत् २००८ के दिन श्री मानस्तंभजी का शिलारोपण मुहूर्त हुआ; उस मंगल-प्रसंग पर मानस्तंभ की महिमा बतलानेवाला पूज्य गुरुदेव का प्रवचन। मानस्तंभ क्या है? कहाँ-कहाँ हैं? मानस्तंभ का संयोग किसे होता है? अध्यात्मदृष्टि के साथ मानस्तंभ का सम्बन्ध किस प्रकार है?—इत्यादि अनेक रहस्यों की इस प्रवचन में स्पष्टता की है।]

आज यहाँ मानस्तंभ के शिलारोपण का मुहूर्त हुआ है। मानस्तंभ क्या वस्तु है, उसकी कई लोगों को खबर नहीं है; इसलिये उन्हें नवीनता मालूम होती है। श्री तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा में चारों ओर मानस्तंभ होते हैं। मानस्तंभ को देखते ही मिथ्यादृष्टि-मानी जीवों का मान गल जाता है।

आत्मा के ज्ञानानंदस्वभाव का भान होने के पश्चात्, अभी पूर्ण वीतरागता न हुई हो, वहाँ राग होता है और उस राग से किसी जीव को तीर्थंकर नामकर्म बँध जाता है। तीर्थंकर होनेवाले जीव को ही इसप्रकार के परिणाम आते हैं। कोई पूछे कि, क्यों?—तो इसका कोई कारण नहीं है; उस जीव को पूर्वकाल में कहीं तीर्थंकर नामकर्म नहीं बँधा है कि जिसके उदय से तीर्थंकर नामकर्म के परिणाम हों। जो जीव तीर्थंकर होनेवाला हो, उसे सम्यग्दर्शन के पश्चात् उसप्रकार के परिणाम हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी सर्व जीवों को एक-से परिणाम नहीं होते। तीर्थंकर का जीव ही ऐसा है कि उसे उसप्रकार के शुभ परिणाम होते हैं और तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है। तत्पश्चात् वह राग दूर होकर केवलज्ञान होने के पश्चात् उस तीर्थंकरप्रकृति का उदय आता है, तब इन्द्र आकर दैवी समवसरण की रचना करते हैं; उसमें चारों ओर मानस्तंभ होते हैं। उस समवसरण का

यहाँ तो नमूना है। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में श्री सीमंधर परमात्मा तीर्थंकररूप से विराज रहे हैं; वहाँ इन्द्रों द्वारा रचित समवशरण है और उसमें चार मानस्तंभ हैं। उन मानस्तंभों को देखकर मिथ्यादृष्टि-मानी जीवों का अभिमान गल जाता है। यहाँ भगवान की ऐसी पुण्यप्रकृति का उदय है और सामनेवाले जीव के परिणाम की वैसी योग्यता है। भले ही मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव कदाचित् न छूटे; परन्तु मानस्तंभ आदि धर्मवैभव देखते ही उसे एकबार तो तीर्थंकर भगवान का बहुमान आ जाता है कि अहो! यह कोई अलौकिक पुरुष हैं!—इसप्रकार बहुमान आने से उसका अभिमान गल जाता है।

तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्र आकर समवशरण की रचना करते हैं; उसमें मानस्तंभ इत्यादि की अलौकिक रचना होती है; उस स्वनिर्मित समवशरण की अलौकिक शोभा देखकर देव स्वयं भी आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि अहो! ऐसी अद्भुत रचना! यह रचना हमने नहीं की है; भगवान के पुण्यप्रताप से ही यह हो गई है। भगवान तो वीतराग हैं; उन्हें समवशरण के साथ सम्बन्ध नहीं है। जिसे चैतन्य की ऋद्धि का भान हुआ हो, उसी को ऐसे पुण्य का बंध होता है। भगवान के अंतर में तो केवलज्ञान और अनंत आनन्द की विभूति प्रगट हुई है और बाह्य में समवशरण की विभूति का पार नहीं है।

जब भगवान महावीर इस भरतक्षेत्र में तीर्थंकररूप में विचर रहे थे, उस समय यहाँ भी समवशरण की रचना होती थी और उसमें मानस्तंभ थे; उन मानस्तंभों को देखकर मानी जीवों का मान गल जाता था। भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् इन्द्रों ने समवशरण की रचना की; परन्तु छियासठ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। तब इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा कि—गौतम ब्राह्मण, भगवान के प्रथम गणधर होनेवाले हैं और सभा में उनकी अनुपस्थिति है। तुरन्त ही इन्द्र ब्राह्मण का वेश लेकर गौतम को वाद-विवाद के बहाने भगवान के समवशरण में लाता है। उस समय तो गौतम मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु समवशरण के निकट आकर मानस्तंभ को देखते ही उनका सब अभिमान गल जाता है और 'अहो! ऐसी अलौकिक विभूति! यह पुरुष कोई भिन्न प्रकार के हैं!'—इसप्रकार भगवान का बहुमान आता है और उनकी स्तुति करते हैं। पश्चात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके भगवान का गणधरपद प्राप्त करते हैं और बारह-अंग चौदहपूर्व की रचना करते हैं। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमंधरादि बीस तीर्थंकरभगवान विचर रहे हैं, उनके समवशरण में मानस्तंभ साक्षात् विद्यमान हैं।

इस मध्यलोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं; उनमें आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। उस नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वत् जिनमंदिर हैं और उन मन्दिरों के सामने शाश्वत् मानस्तंभ हैं। जिसप्रकार सर्वज्ञ परमात्मा मनुष्यलोक में सर्वदा होते ही हैं—उनका कभी विरह नहीं होता, उसीप्रकार उन परमात्मा की प्रतिमा भी जगत में शाश्वत् हैं। नन्दीश्वर द्वीप में रत्न-मणि के शाश्वत् जिनबिम्बों के सामने मानस्तंभ हैं, उनका वर्णन शास्त्र में ''धर्मवैभव'' कहकर किया है। देखो, इस मध्यलोक में नंदीश्वर द्वीप में शाश्वत जिनमंदिर और मानस्तंभ हैं; वहाँ की शोभा का पार नहीं है; वर्ष में तीनबार—कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ मास में अष्टमी से पूर्णिमा तक देव वहाँ भक्ति करने जाते हैं और महोत्सव मनाते हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती महान दिगम्बर संत थे; छठवें-सातवें गुणस्थान में वीतरागी आनंद में झूलते थे; उन्होंने ''त्रिलोकसार'' शास्त्र में तीनलोक की रचना का वर्णन किया है; उसमें नन्दीश्वर द्वीप का वर्णन करते हुए वहाँ के मानस्तंभ को 'धर्मविभव' कहा है। परमार्थवैभव तो आत्मा में हैं; अनंतगुणों के निजवैभव से आत्मा परिपूर्ण है; और बाह्य में नन्दीश्वर द्वीप आदि में जो शाश्वत जिनबिम्ब तथा मानस्तंभ आदि धर्मविभव है, वह साक्षात् देखने का सौभाग्य देवों को ही प्राप्त होता है, मनुष्य वहाँ नहीं जा सकते। समवशरण, मानस्तंभ इत्यादि धर्मवैभव देखने का सौभाग्य पुण्यवंत जीवों को ही प्राप्त होता है। पुण्य के बिना ऐसा धर्मवैभव देखने को नहीं मिलता।

इस पृथ्वी के नीचे भवनवासी और व्यंतर देवों के निवासस्थान हैं; वहाँ भी शाश्वत् जिनमंदिर और जिनप्रतिमाएँ हैं; उनके सामने शाश्वत् मानस्तंभ हैं।

इसप्रकार पहले मध्यलोक के मानस्तंभों की, और फिर अधोलोक के मानस्तंभों की बात की। ऊर्ध्वलोक में भी मानस्तंभ हैं, वह अब कहते हैं।

ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवलोक में भी शाश्वत् मानस्तंभ हैं। उनमें प्रथम सौधर्मस्वर्ग का मानस्तंभ ३६ योजन ऊँचा है। ऐसे अनेक मानस्तंभ हैं। उन मानस्तंभों के ऊपर-नीचे लगभग छह-छह योजन छोड़कर बीच में २४ योजन में रत्न की साकलों से लटकते हुए पिटारे हैं; उनमें तीर्थंकर के आभूषण रहते हैं। उनमें से आभूषण लेकर इन्द्र तीर्थंकर के लिये भेजता है। देखो, तीर्थंकर के आभूषण भी स्वर्ग में से आते हैं! तीर्थंकर ऐसे पुण्यवंत पुरुष हैं कि जन्म से ही उनके शरीर में अशुचि नहीं होती। तीर्थंकरदेव, माता के स्तन का दूध भी नहीं पीते; उनके लिये वस्त्राभूषण और भोजनादि स्वर्ग में से आते हैं। भगवान के दीक्षा लेने से पूर्व की यह बात है; दीक्षा लेने के पश्चात् मुनिदशा में तो वस्त्राभूषणादि होते ही नहीं।

तीर्थंकरों के आभरण स्वर्ग के मानस्तंभों में रहते हैं—

(१) सौधर्म स्वर्ग में जो मानस्तंभ है, उसके पिटारे में भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण हैं।

(२) ईशान स्वर्ग में जो मानस्तंभ है, उसके पिटारे में ऐरावतक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण हैं।

(३) सनत्कुमार स्वर्ग में जो मानस्तंभ है, उसके पिटारे में पूर्व-विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण हैं।

(४) माहेन्द्र स्वर्ग में जो मानस्तंभ है, उसके पिटारे में पश्चिम-विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण हैं।

यह मानस्तंभ देवों द्वारा भी पूज्य हैं।

देखो, यह सब शाश्वत् है। यह कहीं कल्पना नहीं है, परन्तु सर्वज्ञदेव ने ज्ञान में देखी हुई जगत की वस्तुस्थिति है। यह बात मानने से ही जगत का उद्धार है। आज माने... कल माने अथवा भवांतर में माने, किन्तु मानना ही पड़ेगा।

अहो! जैनधर्म का वैभव!! देखो तो, अन्तर में चैतन्यस्वभाव का परम अद्भुत वैभव और बाह्य में मानस्तंभादि का अद्भुत वैभव! जैनधर्म का ऐसा वैभव साधारण जीवों को तो देखने को भी नहीं मिलता; पुण्यवान जीव ही उसे देख सकते हैं; और अंतर का चैतन्यवैभव तो पुण्य से भी पार है।

अहो! तीर्थंकर भगवन्तों के अंतर के वैभव की तो बात ही क्या! परन्तु उनके पुण्य का वैभव भी अलौकिक है। अंतर में आत्मा की पवित्रता द्वारा चैतन्य का केवलज्ञानादि वैभव प्रगट हुआ है और बाह्य में पुण्य के फल में समवशरणादि वैभव का संयोग होता है; उस समवशरण में चारों दिखाओं में मानस्तंभ होते हैं; उन्हें देखते ही मानी जीवों का अभिमान चूर-चूर हो जाता है। देखो, तीर्थंकरों का पुण्य! गृहस्थदशा में तो आभूषणादि स्वर्ग में से आते हैं, केवलज्ञान होने पर समवशरणादि की रचना होती है। ऐसे पुण्यपरिणाम तीर्थंकर होनेवाले आत्मा को ही होते हैं। परन्तु यह ध्यान रखना कि इस पुण्य के साथ अंतर में पवित्रता भी भरी है; वह पवित्रता ही आत्मा को तारती है... कहीं पुण्य नहीं तारता। पुण्य के फल में तो बाह्य वैभव की प्राप्ति होती है, और पवित्रता से अंतरंग केवलज्ञानवैभव प्रगट होता है। अहो! यह कैसा वैभव! तीर्थंकरों को बाह्य से समवशरण के वैभव का पार नहीं है, तथापि उसमें उन्हें कहीं भी राग का अंशमात्र भी नहीं है; वे तो आत्मा के परम शांत आनन्दरस में मग्न हैं... पर से अत्यंत उपेक्षाभाव प्रगट होकर अकषायी चैतन्यबिम्ब हो गये हैं। अहो! ... अंतर में इतना उपेक्षाभाव और ऐसी वीतरागी परिणति... तथापि बाह्य में ऐसे

वैभव का संयोग!— उसे देखते ही मानी जीवों का मान गल जाता है। भगवान के समवशरण में मानस्तंभ को देखते ही पात्र को ऐसा लगता है कि—ऐसा जिसका वैभव है, वह आत्मा कैसा होगा?—अहो! वैभव का पार नहीं है, तथापि राग का अंश भी नहीं है।—इसप्रकार बहुमान आने से अभिमान छूट जाता है। मानस्तंभ मानी जीवों के मान को गला देता है—ऐसा उल्लेख पुराणों में जगह-जगह मिलता है।

जो आत्मस्वरूप में झूलते हुए महान संत थे, पंचमहाव्रत का पालन करनेवाले और बारम्बार निर्विकल्प अनुभव में लीन होनेवाले थे, तथा छठवें गुणस्थान में आने पर जिनका एक-एक विकल्प सत्य की स्थापना करनेवाला था—ऐसे वीतरागी संतों का यह कथन है। साधक जीव को आत्मा की पवित्रता के साथ कैसे विशिष्ट पुण्य होते हैं, उस पुण्य के फल में बाह्य में कैसे संयोग होते हैं—उसका ज्ञान कराया है। समवशरणादि का संयोग प्राप्त हो—ऐसा पुण्य, धर्मात्मा को आत्मा की पवित्रता के साथ ही बँधता है; अज्ञानी के ऐसा पुण्य नहीं होता। तथापि, समवशरण का संयोग प्राप्त होना, वह तो विकार का—पुण्य का फल है; वह कहीं आत्मा के धर्म का फल नहीं है। ऐसा समझे तो संयोग से और विभाव से भेदज्ञान होकर स्वभाव का सम्यग्ज्ञान हो जाये। जहाँ आत्मा के ज्ञान-आनन्द की पूर्णदशारूप वैभव प्रगट हुआ, वहाँ पूर्ण वैभव होता है। आत्मा की सिद्धदशा होने से पुण्य के परमाणु छूट जाते हैं और बाह्य का संयोग भी छूट जाता है। अंतर का चैतन्य-वैभव जहाँ पूर्ण हुआ, वहाँ तीर्थंकरों के बाह्य में समवशरणादि पूर्ण वैभव होता है; उस समवशरण में मानी जीवों के अभिमान को चूर-चूर कर देनेवाले मानस्तंभ होते हैं। नंदीश्वर द्वीप में, ऊर्ध्वलोक में, स्वर्ग में तथा अधोलोक में भवनवासी देवों के निवासस्थान में भी मानस्तंभ हैं, और भारत में भी वर्तमान में अनेक जगह मानस्तंभ है।

चामुंडराय नाम के राजा जैनधर्मी थे और दीक्षा लेकर मुनि हुए थे। राजाओं में मुनि होने वाले वे ही अन्तिम राजा थे। उन चामुंडराय के वंशज, कारकल-मैसूर के पण्डित ''सुव्वय्य शास्त्री'' यहाँ (सोनगढ़) के प्रेमी हैं। जब 'श्राविका-ब्रह्मचर्याश्रम' का उद्घाटन हुआ था, उस समय वे यहाँ आये थे। यहाँ की बात सुनकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए थे। ''वस्तु की योग्यता से ही प्रत्येक कार्य होता है; अहो! यह 'योग्यता' तो अपूर्व वस्तुस्थिति को प्रगट करती है; इसमें तो अकेला ज्ञायकभाव और वीतरागता है''—यह बात उन्हें अपूर्व मालूम हुई। वे शास्त्रीजी कहते थे कि हमारे प्रान्त में ९० फीट ऊँचा एक ही पत्थर में से काटा हुआ मानस्तंभ है। इसके अतिरिक्त

अजमेर में भी ८२ फीट ऊँचा मानस्तंभ है; श्री सम्मेदशिखरजी, पावागढ़, चित्तोड़, मांगीतुगी, महावीरजी, आरा, तारंगा, मूलबद्री, दक्षिण कन्नड, श्रवणबेलगोला—इत्यादि स्थानों पर भी मानस्तंभ हैं। तात्पर्य यह कि मानस्तंभ कोई नवीन वस्तु नहीं है। यहाँ मानस्तंभ बनवाने का विचार दस वर्ष पूर्व हुआ था, और आज उसका मुहूर्त हुआ है। उसमें मुमुक्षुओं ने अत्यन्त उल्लास प्रदर्शित किया है। वर्तमान में सौराष्ट्र में किसी स्थान पर मानस्तंभ नहीं था और सर्वप्रथम यहाँ (सोनगढ़) तैयार हो रहा है, इसलिये अनजान लोगों को नवीनता मालूम होती है।

— सोनगढ़ में मूलनायक भगवान श्री सीमंधर भगवान;

– शास्त्र श्री समयसारजी;

– समवशरण अष्टभूमिवाला और उसी में कुंदकुंदाचार्यदेव भगवान के समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हैं;

– स्तंभ–आधाररहित विशाल प्रवचन–मण्डप;

– और यह विशाल मानस्तंभ!

—यह सब अनेक लोगों को नवीन मालूम होता है; परन्तु भाई! यह नवीन नहीं है; तुम्हें खबर नहीं है, इसलिये नवीन लगती है।

अनेक लोगों को प्रश्न उठता है कि अध्यात्मदृष्टि के साथ मानस्तंभ का सम्बन्ध किसप्रकार है? उसका स्पष्टीकरण भी इसमें आ गया है। धर्मी जीव को रागरहित शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई है, तथापि अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई हो, तब तक धर्मप्रभावनादि का शुभभाव आता है; उसमें मानस्तंभादि की रचना का भाव भी आता है। ''अध्यात्मदृष्टि होने पर भी ऐसा भाव आये तो उसमें कोई विरोध नहीं है। यदि कोई ऐसा कहे कि 'अध्यात्मदृष्टि वाले को शुभभाव आना ही नहीं चाहिए''—तो वैसा कहनेवाले को यह भान नहीं है कि अध्यात्मदृष्टि क्या है; तथा पुण्यतत्त्व की भी उसे खबर नहीं है। राग की भूमिका में विचित्र प्रकार के रागभाव आते हैं; उसमें धर्मी को देव–गुरु–धर्म की भक्ति–प्रभावना का भाव हुए बिना नहीं रहता। मानस्तंभ भी धर्म की प्रभावना का कारण है। जिस जीव को सच्चे देव–गुरु–धर्म की प्रभावना का उल्लासभाव नहीं आता और मात्र अशुभराग में ही लिप्त हो रहा है, उसे तो संसार और धर्म के निमित्तों के बीच का विवेक करना भी नहीं आता। जीव के राग के कारण कहीं बाह्य कार्य नहीं होते; वे तो अपने कारण से स्वयं होते हैं। परन्तु जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे धर्म के निमित्त का भी बहुमान आये बिना नहीं रहता। कोई

ऐसा माने कि ''हमें ऐसी बाह्य-प्रवृत्तियों में न पड़कर आत्मा के ही विचार में रहना चाहिए''—तो वह भी वस्तुस्थिति को नहीं समझता है। भाई! बाह्यप्रकृति को तो कहाँ कोई जीव कर सकता है? राग के समय राग की दिशा किस ओर ढलती है, उसकी यह बात है। अध्यात्मदृष्टिवाले को बाह्य विकल्प ही न आये—ऐसा नहीं है; और जीव को विकल्प उठा, इसलिये बाह्य में मानस्तंभादि के कार्य होते हैं—ऐसा भी नहीं है। जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे ऐसा विकल्प आता है कि अहो! मानस्तंभ द्वारा जगत जैनधर्म के वैभव को देखे और धर्म की प्रभावना हो! उसमें निमित्तरूप से वीतरागी देव-गुरु-धर्म का बहुमान है और परमार्थतः अपने पूर्णस्वभाव का बहुमान है। भक्ति-प्रभावना का शुभविकल्प किन्हीं जीवों को तो अन्तर की समझपूर्वक आता है और किन्हीं को साधारण लक्षपूर्वक आता है, तथा किन्हीं जीवों को तो समझ के बिना भी शुभविकल्प आता है। शुभविकल्प से धर्म होता है—यह कहने का तात्पर्य नहीं है, परन्तु निचलीदशा में अध्यात्मदृष्टि -वाले को या जिसे अध्यात्मदृष्टि नहीं है, उसे भी शुभविकल्प आता है और वह पुण्यबंध का कारण है; उसे यदि न माने तो उस जीव ने पुण्यतत्त्व को नहीं जाना है। जीव के शुभ-विकल्प के कारण जड़ की क्रिया हुई—ऐसा नहीं है, और जड़ की क्रिया होना थी; इसलिये जीव को शुभ-विकल्प करना पड़ा—ऐसा भी नहीं है; अजीव की क्रिया अजीव के कारण होती है—उसका धर्मी को बराबर भान है; परन्तु राग के समय उसे धर्मप्रभावनादि में उल्लासपरिणाम आये बिना नहीं रहते। जैसे—संसार में जिसे स्त्री आदि का प्रेम है, उसे उसके पोषण का अशुभभाव आता है; उसीप्रकार जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे धर्म के निमित्तों के प्रति तथा प्रभावनादि में शुभभाव आता है। यदि उसे स्वीकार न करे तो उस जीव को संसार और धर्म के बीच का विवेक नहीं है; और यदि उस राग को ही धर्म मान ले तो उसे भी स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान नहीं है। अध्यात्मदृष्टिवाले जीव, राग को धर्म नहीं मानते, तथापि निचलीदशा में राग आता है अवश्य; अध्यात्मदृष्टि के पश्चात् जिन्हें स्वभाव में लीन होकर पूर्ण वीतरागता प्रगट हो गई हो, उन्हें किसी प्रकार राग नहीं होता। जिस भूमिका की जो स्थिति हो, वह जानना चाहिए।

बाह्य-प्रवृत्ति तो कोई जीव कर ही नहीं सकता; इसलिये बाह्य संयोगों पर से धर्म-अधर्म का माप नहीं है। धर्मी को पूर्व-पुण्य के कारण बाह्य में संयोग के समूह दिखाई दें, तथापि ज्ञानी को उलझन नहीं होती; उन्हें ऐसी शंका नहीं आती कि ''अधिक संयोग हैं; इसलिये मुझे अधिक बंध हो जायेगा!'' बाह्य में अधिक संयोग हों, इसलिये राग की प्रवृत्ति बढ़ गई और संयोग कम हुए,

इसलिये राग की प्रवृत्ति कम हो गई—ऐसा नहीं है। संयोग उनके अपने कारण होते हैं और राग भी होता है, परन्तु उस समय जीव की दृष्टि कहाँ पड़ी है ?—राग और संयोग पर ही दृष्टि है या स्वभाव पर दृष्टि है ?—उस पर धर्म-अधर्म का माप है।

धर्मी जीव अपने चैतन्यस्वभाव की दृष्टि रखकर स्व-पर प्रकाशक ज्ञान में राग को और संयोग को भी जानते हैं; परन्तु मेरे कारण पर के कार्य हुए अथवा तो परज्ञेयों के कारण मुझे ज्ञान हुआ—ऐसा धर्मी नहीं मानते; और राग के कारण ज्ञान या ज्ञान के कारण राग हुआ—ऐसा भी वे नहीं मानते। संयोग से तथा राग से भिन्नता और ज्ञानस्वभाव में एकता—ऐसे विवेक के कारण उन्हें प्रतिक्षण स्वभाव में ज्ञान की एकाग्रता होती जाती है और राग दूर होता जाता है—उसका नाम धर्म है। धर्मी जानता है कि मेरे स्वभाव के आश्रय से ज्ञान का प्रतिसमय का स्वतंत्र परिणमन होता है, और सन्मुख ज्ञेय पदार्थों में भी समय-समय का स्वतंत्र परिणमन होता है। मेरे स्व-पर प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य की योग्यता जैसा जानने की ही, वैसा ही ज्ञेय सामने होता है; और राग के समय वैसा ही राग होता है; तथापि किसी के कारण कोई नहीं है—ज्ञान के कारण राग या संयोग नहीं है; संयोग के कारण ज्ञान या राग नहीं है और राग के कारण ज्ञान या संयोग नहीं है।—ऐसा जाननेवाला धर्मी जीव संयोग और राग की रुचि छोड़कर चिदानन्दस्वभाव की ही रुचि और भावना करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव जब संसार के स्वरूप का विचार करता है, तब तीर्थंकर, समवशरण, मानस्तंभ आदि के स्वरूप का भी विचार करता है।—इसमें अनेक गंभीर न्याय हैं, उन्हें अंतर से समझे तो समझ में आ सकते हैं।

देखो, आज यहाँ मानस्तंभ का मुहूर्त किया, उसके मांगलिक में यह "मानस्तंभ की भेरी" बजाई.... यह मानस्तंभ ऐसा घोषित करता है कि "हे जीवों! यदि तुम्हें सत्य-धर्म की रुचि हो, और उसे समझकर आत्मा का कल्याण करना हो तो वह इस वीतराग-मार्ग में ही है।" (इस समय तालियों की गड़गड़ाहट से श्रोताओं ने मानस्तंभ की इस मंगल-भेरी को झेला था।)

अहो... वस्तुस्वरूप क्या है, उसका धैर्यपूर्वक विचार करके निर्णय करना चाहिए। अन्तर में वस्तुस्वरूप के निर्णय बिना बाह्य से कल्याण नहीं हो सकता। अनंतकाल में दुर्लभ ऐसा यह मनुष्यभव मिला, सत्समागम की प्राप्ति हुई और वीतरागकथित वस्तुस्वरूप सुनने को मिला। अब, यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है कि जिसके स्वीकार से भव का नाश होता है ?—उसकी रुचि करके बराबर समझना चाहिये। जीवों ने अनादिकाल में सत्य बात को कभी अंतर की रुचिपूर्वक नहीं सुना है; यदि एकबार भी अंतर में उल्लास प्रगट करके रुचिपूर्वक श्रवण करें तो मोक्ष हुए बिना न रहे!

जीव और शरीर के बीच कितना अंतर!

परद्रव्यं परद्रव्यं स्वद्रव्यं द्रव्यमात्मनः
सम्बन्धोपि तयोर्नास्ति यथायं सह्यविन्ध्ययोः ॥१६८॥

अर्थ :- परद्रव्य सदैव परद्रव्य ही रहता है और स्वद्रव्य सदा स्वद्रव्य ही रहता है। स्वद्रव्य और परद्रव्य—दोनों को कोई भी सम्बन्ध नहीं है—जिसप्रकार सह्याचल और विन्ध्याचल पर्वत को परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है उसप्रकार।

भावार्थ :- जिसप्रकार सह्याचल और विन्ध्याच—दोनों पर्वत सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है; उसीप्रकार आत्मा और शरीरादिक परद्रव्य—दोनों सर्वथा भिन्न हैं; उनका परस्पर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। (-प्रबोधसार से)

[यहाँ, सामायिक करनेवाले श्रावक की भावनारूप से यह वर्णन किया है; इसलिये जिसकी भावना इससे विरुद्ध हो, उसके सामायिक नहीं होती—ऐसा भी गर्भितरूप से समझ लेना।]

श्री सनातन जैन शिक्षण-वर्ग

[ग्रीष्मावकाश में विद्यार्थियों के लिये ता. १२-५-५२ ज्येष्ठ कृष्णा तृतीया से प्रारम्भ करके ता. ५-६-५२ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी तक श्री जैन स्वाध्याय मंदिर की ओर से जैनदर्शन शिक्षण-वर्ग खोला गया था। इस वर्ष वर्ग में लगभग १४० विद्यार्थी आये थे, और तीन श्रेणियाँ रखी गई थीं। उत्तम श्रेणी में द्रव्यसंग्रह तथा जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, मध्यम श्रेणी में छहढाला तथा जैनसिद्धा प्रवेशिका के पठन का कार्यक्रम रखा गया था। ता. २-६-५२ को वर्ग की परीक्षा ली गई थी और सभी विद्यार्थियों को लगभग ४००) के मूल्य की पुस्तकें तथा चित्र पारितोषक के रूप में बाँटे गये थे तथा प्रमाण-पत्र भी दिये गये थे। परीक्षा में उत्तम श्रेणी के विद्यार्थियों से पूछे गये प्रश्न तथा उनके उत्तर यहाँ दिये जा रहे हैं।]

उत्तम श्रेणी के प्रश्न और उनके उत्तर

[द्रव्यसंग्रह तथा जैनसिद्धान्त प्रवेशिका]

प्रश्न : १ - सिद्धत्व क्या है ? वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह प्राप्त होने से क्या-क्या प्रगट

होता है ? और उनके (सिद्ध के) बाह्य सामग्री का सुख है या नहीं ?—इस विषय पर एक निबंध लिखो।

[इस लेख के उत्तररूप निबंध इसी अंक में छपा है, उसे पढ़ें !]

प्रश्न : २—(अ) जीव के नौ अधिकारों के नाम लिखो।

(ब) जीवत्व, कर्तृत्व और संसारित्व अधिकार में जिन-जिन नयों से कथन किया गया हो उनके नाम लिखो और समझाओ कि वह प्रत्येक नय क्या बतलाता है।

उत्तर : २— (अ) जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वदेह - परिमाणत्व, संसारित्व, सिद्धत्व और विस्रसाऊर्ध्वगमनत्व—इसप्रकार जीव के नौ अधिकार हैं।

(ब) जीव अधिकार में व्यवहारनय और निश्चयनय से कथन किया गया है।

यह जीव इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास और आयुप्राण से जी रहा है;—ऐसा कहना, वह व्यवहारनय का कथन है; यहाँ व्यवहारनय, जड़ प्राणों का संयोग बतलाता है।

यह जीव चेतनाप्राण से जी रहा है;—ऐसा कहना, वह निश्चयनय का कथन है; यहाँ निश्चयनय वस्तु का मूलस्वरूप बतलाता है।

कर्तृत्व अधिकार में व्यवहारनय, अशुद्ध निश्चयनय और शुद्ध निश्चयनय से कथन किया गया है।

व्यवहारनय से जीव द्रव्यकर्म और नोकर्म का कर्ता है; यहाँ व्यवहारनय जड़ के कर्तृत्व में जीव के रागादि का निमित्तपना बतलाता है।

अशुद्ध निश्चयनय से जीव रागादि विकारभावों का कर्ता है; यहाँ अशुद्ध निश्चयनय जीव की अपनी अशुद्धता को बतलाता है।

शुद्ध निश्चयनय से जीव शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय भावों का कर्ता है; यहाँ शुद्ध निश्चयनय जीव के शुद्ध परिणामों को बतलाता है।

संसारित्व अधिकार में व्यवहारनय और निश्चयनय से कथन किया गया है।

व्यवहारनय से यह जीव चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थान वाला है; यहाँ व्यवहारनय जीव की भेदरूप अशुद्धता बतलाता है।

निश्चयनय से सर्व जीव शुद्ध हैं; यहाँ निश्चयनय जीव की अभेदरूप शुद्धता बतलाता है।

प्रश्न : ३—(क) उपयोग की व्याख्या लिखो तथा उसके भेद और विशेष भेद लिखो।

(ख) अपूर्ण ज्ञान कौन-कौन से हैं और उन प्रत्येक के पूर्व कौन-कौन सा दर्शनउपयोग होता है ?

(ग) जीव पैसे का उपयोग कर सकता है या नहीं ? वह कारणसहित समझाओ।

(घ) एक विद्यार्थी जिनमंदिर में बैठकर 'द्रव्यसंग्रह' पढ़ता था; फिर उसने सीमंधर भगवान की प्रतिमाजी के दर्शन किये और तत्पश्चात् एक भक्तिकाव्य सुना;—इसमें पठन, दर्शन और श्रवण करने में कौन-कौन से उपयोग हुए वह अनुक्रम से लिखो !

उत्तर : ३—(क) चैतन्य के अनुसरण में होनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं; उसके दो भेद हैं— (१) दर्शनउपयोग और (२) ज्ञानउपयोग। उनके विशेष भेद १२ हैं, वे इसप्रकार हैं :— (१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन, और (४) केवलदर्शन; (५) कुमतिज्ञान (६) कुश्रुतज्ञान (७) कुअवधिज्ञान (८) मतिज्ञान (९) श्रुतज्ञान (१०) अवधिज्ञान (११) मनःपर्ययज्ञान और (१२) केवलज्ञान। —इसप्रकार दर्शनउपयोग के ४ और ज्ञानउपयोग के ८—कुल १२ भेद हैं।

(ख) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान यह चार ज्ञान अपूर्ण हैं। मतिज्ञान से पूर्व चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शन का उपयोग होता है। श्रुतज्ञान, मतिपूर्वक ही होता है, इसलिये श्रुतज्ञान से पूर्व दर्शन का उपयोग नहीं होता।

अवधिज्ञान से पूर्व अवधिदर्शन का उपयोग होता है। मनःपर्यय ज्ञान से पूर्व मतिज्ञान का 'ईहा' नाम का भेद होता है, इसलिये मनःपर्ययज्ञान से पूर्व भी दर्शनउपयोग नहीं होता।

(ग) जीव पैसे का उपयोग नहीं कर सकता; क्योंकि जीव चेतन है और पैसा अचेतन है। जीव अपनी चैतन्यमय पर्याय का उपभोग कर सकता है, किन्तु जड़ की पर्याय को नहीं भोग सकता। जीव और पैसे के बीच अत्यन्त अभाव है। यदि जीव पैसे का उपयोग कर सके तो वह स्वयं जड़ हो जाये; अथवा पैसा चेतन हो जाये। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

(घ) विद्यार्थी को पढ़ते समय मतिज्ञानरूप उपयोग था; पश्चात् सीमंधर भगवान के दर्शन करने से पूर्व चक्षुदर्शन का उपयोग हुआ; प्रतिमाजी के दर्शन किये तब नेत्रजन्य मतिज्ञान का उपयोग हुआ; भक्ति के श्रवण से पूर्व अचक्षुदर्शन का उपयोग था और श्रवण के समय कर्णेन्द्रिय सम्बन्धी मतिज्ञान का उपयोग हुआ।

प्रश्न : ४—निम्नोक्त प्रश्नों के उत्तर कारणसहित लिखो।

(१) सिद्धभगवान परिपूर्ण हो गये हैं, तो वे अलोकाकाश को जान सकते हैं ? और वहाँ जा सकते हैं या नहीं ?

(२) घड़ी की जो दो सुईयाँ दिखाई देती हैं, वह निश्चयकाल है या व्यवहारकाल ?

(३) किसी वृक्ष के पत्ते हिलते हैं, वे किस गुण के कारण ? और उस वृक्ष के पत्तों की परछाईं नीचे चलती हुई दिखाई देती है, वह किस गुण के कारण ?

(४) आकाश को धर्मद्रव्य निमित्त है या अधर्म द्रव्य ?

(५) अरिहंत भगवान तथा सिद्धभगवान की पर्याय में क्या अन्तर है ?

(६) जीव का आकार बड़ा हो तो उसे सुख हो या जड़ इन्द्रियाँ अधिक हों तो सुख हो ?

उत्तर : ४—(४) सिद्धभगवान परिपूर्ण हो गये हैं, इसलिये उनके परिपूर्ण—ऐसा केवलज्ञान प्रगट हो गया है; वह केवलज्ञान सर्व पदार्थों को जानता है, इसलिये उसके द्वारा सिद्धभगवान अलोकाकाश को भी जानते हैं। और अलोकाकाश में ''प्रमेयत्व'' नाम का गुण है, इसलिये वह केवलज्ञान में ज्ञात होता है।

सिद्ध भगवान अलोकाकाश को जानते हैं, तथापि वे अलोकाकाश में जा नहीं सकते; वे लोक के अग्रभाग में विराजमान होते हैं। निश्चय से उनकी गति की योग्यता वहीं तक जाने की है; और निमित्तरूप से कहें तो अलोकाकाश में गति के निमित्तभूत ऐसे धर्मद्रव्य का अभाव है। और सिद्ध भगवान तो लोक के द्रव्य हैं; लोक का द्रव्य लोक से बाहर कैसे जा सकता है ?

(२) घड़ी की जो दो सुईयाँ दिखाई देती हैं, वह निश्चयकाल नहीं है और व्यवहारकाल भी नहीं है; वह तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है; क्योंकि वह तो इन्द्रिय का विषय होने से प्रगटतया रूपी है; और रूपी तो पुद्गल ही होता है। कालद्रव्य इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह अरूपी है।

(३) वृक्ष के पत्तों का हिलना, वह पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। पुद्गल में क्रियावती नाम की एक शक्ति है, उस शक्ति के कारण उसका क्षेत्रांतर होता है, और इसी से पत्ते हिलते हैं।

नीचे जो परछाईं चलती हुई दिखाई देती हैं, उसमें वास्तव में वह परछाईं नहीं चलती परन्तु उस-उस जगह के परमाणु स्वयं ही द्रव्यत्वगुण के कारण वर्ण गुण में सफेद, काली अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं।

(४) आकाश को धर्मद्रव्य या अधर्मद्रव्य—दो में से एक भी निमित्त नहीं है; क्योंकि

धर्मद्रव्य तो गतिरूप परिणत द्रव्यों को गति में निमित्त है; आकाशद्रव्य कहीं गति नहीं करता; इसलिये उसे धर्मद्रव्य निमित्त नहीं है। और अधर्मद्रव्य, गतिपूर्वक स्थिति प्राप्त करनेवाले द्रव्यों को निमित्त है; आकाशद्रव्य तो सदैव स्थिर ही है, वह गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त नहीं है; इसलिये उसे अधर्मद्रव्य भी निमित्त नहीं है। गति-स्थिति में धर्म-अधर्मद्रव्य का निमित्तपना जीव और पुद्गल को ही है।

(५) अरिहंत भगवान को ज्ञानादि गुणों की स्वभावअर्थपर्याय है, योगादि गुणों की विभावअर्थपर्यायें हैं तथा प्रदेशत्वगुण की विभावव्यंजनपर्याय है। और सिद्ध भगवान को स्वभावअर्थपर्याय या स्वभावव्यंजनपर्याय है; उन्हें विभावअर्थपर्याय या विभावव्यंजनपर्याय नहीं है।

अरिहंत भगवान के सभी अर्थपर्यायें स्वभावरूप नहीं हुई हैं, परन्तु कुछ हुई हैं; और सिद्ध भगवान के तो समस्त अर्थपर्यायें स्वभावरूप हो गई हैं। अरिहंत-भगवान के व्यंजनपर्याय भी विभावरूप है और सिद्ध भगवान के वह स्वभावरूप है।

(६) जीव का आकार बड़ा हो तो उसे सुख हो—ऐसा नहीं है; क्योंकि सुख तो अर्थपर्याय है और आकार, वह व्यंजनपर्याय है; इसलिये छोटा-बड़ा आकार, वह सुख-दुःख का कारण नहीं है; परन्तु सुखगुण की स्वभावअर्थपर्याय वह सुख है; और विभावअर्थपर्याय वह दुःख है।

और जड़ इन्द्रियाँ अधिक हों तो जीव को सुख हो—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि जड़ इन्द्रियों में सुख नहीं है, इसलिये वे जीव को सुख का कारण नहीं हैं; सुख तो आत्मा में ही है।

[शेष अगले अंक में]

ग्राहकों से.....

इस अंक से 'आत्मधर्म' का आठवाँ वर्ष समाप्त हो रहा है और आप का वार्षिक मूल्य भी इसी अंक से पूरा हो रहा है। कृपया नये वर्ष का मूल्य तीन रुपया शीघ्र ही मनिऑडर से भेज दें। अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

—व्यवस्थापक आत्मधर्म

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

कादव में कमल!

आत्मज्ञानी संत गृहवास में होने पर भी अंतर से उदास-उदास होते हैं। अहो! उनकी अंतर्दशा की क्या बात! अज्ञानी की अपेक्षा उनके हृदय पृथक् ही होते हैं... उनके हृदय में महान अंतर होता है... उनका अंतरपरिणमन भिन्न प्रकार का होता है। अज्ञानीजन उन्हें किस हृदय से मापेंगे ?

धायमाता लड़के को नहलाती है, दूध पिलाती है और खेलाती है, और उसकी सगी माँ भी नहलाती है, दूध पिलाती है तथा खेलाती है; वहाँ दोनों की क्रिया एक-सी दिखाई देती है, तथापि भाव में महान अंतर होता है। उसीप्रकार अज्ञानी और ज्ञानी की क्रिया बाह्य में एक-सी मालूम होती है, परन्तु भाव में महान अंतर होता है।

ज्ञानी गृहस्थाश्रम में विद्यमान होने पर भी उनका अंतर-हृदय भिन्न प्रकार का होता है। वे समझते हैं कि मैं परमानन्दमूर्ति हूँ, राग का एक कण भी मेरा नहीं है; अशक्ति के कारण इस अस्थिरता में युक्त होता हूँ, वह मेरे आनंद की लूट है, मुझे कलंकरूप है; यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो तो मुझे अन्य कुछ नहीं चाहिए—ऐसा ज्ञानी का हृदय है।

यह तो ज्ञानी के हृदय की संक्षिप्त व्याख्या हुई। ज्ञानी का हृदय कैसा है, उसे साधारण लोग कैसे समझ सकते हैं ? उसे तो जो जानते हैं, वे ही जानते हैं! साधकों के हृदय की कल्पना बाह्य से नहीं हो सकती।

[—समयसार-प्रवचन से]

.....तो ज्ञानी क्या कहते हैं ?

कोई कुतर्क से पुण्य द्वारा धर्म मनाए तो ज्ञानी उसे सत्य नहीं मानते; परन्तु कहते हैं कि-जिसप्रकार विष खाने से अमृत की डकार नहीं आ सकती; उसीप्रकार जिस भाव से बंधन हो, उस भाव से कभी मोक्ष तो नहीं हो सकता किन्तु मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं हो सकता।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[६]

वीर्यशक्ति

[गतांक से आगे]

अनंत शक्तियों में से यदि एक भी शक्ति को न माने तो उसने आत्मा को ही नहीं माना। एक शक्ति का निषेध करने से शक्तिमान आत्मा का निषेध हो जाता है। यदि वीर्य-पुरुषार्थ न हो तो मोक्षमार्ग की रचना कौन करेगा? स्वरूप की रचना का सामर्थ्य तो वीर्यशक्ति में है। और जो पुरुषार्थ को नहीं मानता, उसने वास्तव में सर्वज्ञ को भी नहीं माना है; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान ने तो मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ का परिणमन साथ ही देखा है; उसे जो न माने, उसने वास्तव में सर्वज्ञ के ज्ञान को स्वीकार ही नहीं किया है। सर्वज्ञदेव की 'सर्वज्ञता' का निर्णय करनेवाली अपनी पर्याय में भी अनंत सम्यक्पुरुषार्थ विद्यमान है। जिस जीव को अपने सम्यक्पुरुषार्थ का भास नहीं होता, उसने सर्वज्ञ को नहीं माना है और पुरुषार्थवंत अपने आत्मा का भी उसने अस्वीकार किया है; वह तो नास्तिक की भाँति मिथ्यादृष्टि है।

बाह्य में अनुकूल सामग्री मिले या योग्य निमित्त प्राप्त हों तो मेरा पुरुषार्थ जागृत हो;—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसने वीर्यशक्ति को आत्मा का नहीं माना है, किन्तु पर के आश्रय से माना है। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! तेरी अनंत शक्तियाँ तेरे आत्मा के आश्रय से ही परिणमित हो रही हैं, इसलिये तू अपने आत्मा के सन्मुख देख! आत्मा के सन्मुख देखने से तेरी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से विकसित हो जायेंगी। आत्मा की वीर्यशक्ति का स्वभाव ऐसा है कि वह स्वरूप की ही रचना करती है, विकार की रचना नहीं करती। आत्मा की स्वरूप अवस्था की रचना कोई भी पर नहीं कर सकता और न आत्मा किसी पर की रचना कर सकता है। एक समयपर्यंत का विकार तो कृत्रिम, क्षणिक, एक समयपर्यंत का भाव है; विकार की उत्पत्ति करे, ऐसा वीर्यशक्ति का स्वरूप नहीं है। जो राग-द्वेष में अटकता है, वह भी आत्मा का वीर्य है; परन्तु

उस विकार जितनी ही वीर्यशक्ति नहीं है; वीर्यशक्ति त्रिकाल है, उस त्रिकाल की दृष्टि में एक समय के विकार का अभाव है; इसलिये जो विकार में अटके, उसे यहाँ आत्मवीर्य नहीं माना है; विकार को भी आत्मा नहीं माना है। द्रव्य-गुण और उसमें अभेद हुई निर्मल परिणति को ही यहाँ आत्मा माना है।

आत्मा की वीर्यशक्ति अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को निजस्वरूप में टिका रखती है। अपने जीवत्व, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनंद, प्रभुत्व आदि की रचना करे—उसे प्राप्त करे—प्रगट करे—वह वीर्यशक्ति का कार्य है। आत्मा अपने वीर्यगुण से अपनी सृष्टि का सर्जन करता है, परन्तु पर की सृष्टि का वह सर्जक नहीं है।

वीर्यशक्ति आत्मा के समस्त गुणों में व्यापक है, इसलिये आत्मा का प्रत्येक गुण स्वयं अपनी पर्याय का सर्जन करने में समर्थ है। देव-गुरु-शास्त्रादि कोई निमित्त आकर आत्मा की पर्याय का सर्जन करें, यह बात तो दूर रही; पुण्य द्वारा आत्मा की निर्मल पर्याय का सर्जन होता है, यह बात भी दूर रही; किन्तु आत्मा का एक गुण भी दूसरे गुण की पर्याय का सर्जन नहीं करता; प्रत्येक गुण स्वयं अपनी पर्याय का सर्जन करता है। श्रद्धागुण के आश्रय से श्रद्धा की पर्याय का सर्जन होता है, ज्ञानगुण के आश्रय से ज्ञान की पर्याय का सर्जन होता है, चारित्रगुण के आश्रय से चारित्र की पर्याय का सर्जन होता है। अखण्ड आत्मा के आश्रय से समस्त गुणों की निर्मल पर्याय की रचना एक साथ होती जाती है। इसके अतिरिक्त मंदकषाय से अर्थात् व्रत-भक्ति आदि के शुभपरिणाम से सम्यक्श्रद्धा आदि पर्यायों की रचना नहीं होती।

आत्मा वीर्यशक्ति से स्वयं स्वतंत्ररूप से अपने स्वरूप की रचना करता है; स्वरूप की रचना करने के लिये किसी विकल्प का या दिव्यध्वनि के उपदेश का आश्रय उसके नहीं है। पर के कारण पर्याय विकसित हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। अपनी पर्याय के विकास के लिये जिसने पर का आश्रय माना है, वह मिथ्यादृष्टि है, और उसकी वह पराश्रय की मान्यता ही संसार का मूल कारण है। त्रिकाल शक्ति के आश्रयपूर्वक प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस काल के स्वतंत्र वीर्य सामर्थ्य से परिणमित हो रही है; उसे किसी पर की तो अपेक्षा नहीं है, किन्तु अपनी पूर्व पर्याय तक की अपेक्षा नहीं है। अहो! निरपेक्ष स्वतंत्रवीर्य प्रति समय आत्मा में उछल रहा है। यदि अपनी ऐसी शक्ति को पहिचाने तो अपनी पर्याय को रचना के लिये पराश्रय की बुद्धि छूट जाए, और स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मल-निर्मल पर्याय की रचना हो—उसका नाम धर्म और मोक्षमार्ग है।

आत्मा, पर का कुछ करता है, यह बात तो इस समय यहाँ नहीं है, और पर का नहीं करता —यह बात भी यहाँ नहीं है; क्योंकि आत्मस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ परसन्मुख लक्ष ही नहीं है। स्वभावदृष्टि में आत्मा, राग को करे, यह बात भी नहीं है; किन्तु आत्मा, राग को दूर करे, यह बात भी नहीं है; क्योंकि स्वभावदृष्टि से देखने पर आत्मा में राग है ही नहीं, इसलिये उसे दूर करना भी कहाँ रहा ? ऐसी स्वभावदृष्टि करना ही वीतरागता का मूल है। यहाँ मात्र स्वभावदृष्टि के विषय का वर्णन है। राग की रचना करे, ऐसा तो आत्मा का स्वभाव नहीं है, और उस राग को दूर करने पर भी लक्ष नहीं है, मात्र स्वरूप में ही लक्ष है; स्वरूप के लक्ष से वीतरागी पर्याय की रचना हो जाती है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि से निर्मल पर्याय की रचना करे, ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है। 'आत्मा' ही उसे कहा है, जिसके सामर्थ्य से स्वरूप की उत्पत्ति हो; जिससे विकार की उत्पत्ति हो, उसे आत्मा नहीं कहते। यदि आत्मस्वरूप स्वयं राग की उत्पत्ति करे, तब तो राग कभी दूर ही न हो सके! और यदि उसमें पर की रचना का सामर्थ्य हो तो वह पर से कभी पृथक् न हो सके। जो जिसकी रचना-उत्पत्ति करे, वह उससे पृथक् नहीं रह सकता। आत्मा, राग को उत्पन्न करनेवाला नहीं है; इसलिये उसका दूर करनेवाला भी नहीं है। यदि आत्मा, स्वभाव से राग को दूर करनेवाला हो तो सदैव राग को ही दूर करता रहे अर्थात् सदैव राग पर ही लक्ष बना रहे; रागरहित स्वरूपोन्मुख न हो सके। 'मैं राग को करूँ'—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसका लक्ष राग पर है, किन्तु आत्मस्वभाव पर उसका लक्ष नहीं है। यहाँ तो सर्वतः शुद्ध आत्मस्वरूप को बतलाना है; उस स्वरूप की दृष्टि में तो एक सहजशुद्ध आत्मा की ही अस्ति है; इसके अतिरिक्त उसमें अन्य किसी भाव का स्वीकार नहीं है। अहो! आत्मा मात्र भगवान् है, स्वयं ही चैतन्यपरमेश्वर है; जीवत्व, ज्ञान, सुख, अस्तित्व, प्रभुत्व आदि अनंत गुणों को स्व-स्वरूप में परिणमित करके स्वरूप की रचना करने का ही उसका सामर्थ्य है।

प्रश्नः—क्या प्रारम्भ से ही ऐसा आत्मा समझना चाहिए, अथवा पहले अन्य कुछ करना चाहिए ?

उत्तरः—यदि धर्म करना हो—आत्मा का कल्याण करना हो तो सर्वप्रथम ऐसे आत्मा को समझना चाहिए; क्योंकि धर्म अपने आत्मा में से ही प्रगट होता है; कहीं बाह्य से धर्म नहीं आता। धर्म करने के लिये सब से पहली रीति यही है, अन्य कोई रीति नहीं है। आत्मा देह से—इन्द्रियों से पार, तथा पुण्य-पाप के अभावरूप अनंतशक्ति का पिण्ड, ज्ञायकमूर्ति है; उस आत्मा के स्वरूप की सच्ची प्रतीति करना ही धर्म का प्रारम्भिक उपाय है।

आत्मा के अनंत स्वभावसामर्थ्य का अस्वीकार करे, उसे जानकर उसका स्वीकार न करे तो वह सामर्थ्य कहाँ से प्रगट होगा? जहाँ सत्ता विद्यमान है, उसमें से आयेगी या बाह्य से? परमात्मपने की सत्ता अपने में भरी है; उसका स्वीकार करके उसके सन्मुख हुए बिना परमात्मदशा विकसित नहीं होती। जगत के समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वकालानुसार परिवर्तित हो रहे हैं; उस-उस समय के अपने स्वभाव से ही प्रत्येक पदार्थ परिणमित हो रहा है; उसमें इन्द्र भी क्या करेंगे और तीर्थंकर भी? यदि ऐसी वस्तुस्थिति को समझे तो कहीं भी पर का मिथ्या अहंकार न रहे; इसलिये पर से और विकार से उदासीन होकर ज्ञायकस्वरूप का उत्साह जागृत हुए बिना न रहे। अहो! क्रमबद्धपर्याय में वस्तुएँ परिणमित हो रही हैं—इस निर्णय में तो परम वीतरागता है, अकेले ज्ञायकभाव का ही मंथन होता है। इस ज्ञान और वीतरागता के पुरुषार्थ की अज्ञानी को गंध भी नहीं है, इसलिये वह उसे एकान्त, नियतवाद कहता है।

साधक को अभी अवस्था में कुछ निर्बलता है, परन्तु परिपूर्ण स्वभावसामर्थ्य की स्वीकृति में अवस्था की निर्बलता का अथवा विकार का निषेध है। स्वभाव के सामर्थ्य में कैसी निर्बलता? स्वभाव का सामर्थ्य कहना और उसमें निर्बलता कहना, वह तो 'मेरे मुँह में जिह्वा नहीं है'—ऐसा कहने के समान हुआ! यहाँ तो अखण्डस्वभाव की दृष्टि में प्रथम श्रद्धा और फिर चारित्र का विकास होता है—ऐसे भेद की भी मुख्यता नहीं है। अपने स्वरूप की प्राप्ति करे—ऐसी वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, और ऐसी अनंतशक्तियों से अभेद आत्मा है; उस आत्मा के आश्रय से ज्ञानमात्र भाव का परिणमन होने से अनंतशक्तियाँ एकसाथ निर्मलरूप से विकसित हो जाती हैं।—ऐसा आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है।

यहाँ छठवीं वीर्यशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

सिद्ध का स्वरूप और सिद्धि का पंथ

[जैन शिक्षण-वर्ग की उत्तम श्रेणी की परीक्षा में
पूछे गये पहले प्रश्न के उत्तररूप निबंध]

''कर्मबंध सब काटके पहुँचे मोक्ष सुथान;
नमूं सिद्ध परमात्मा ध्यान करूँ अमलान।''

सिद्धत्व, आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध, परिपूर्ण निर्विकारी पर्याय है। निश्चय से प्रत्येक आत्मा सिद्ध जैसा है। ''सिद्धसमान सदा पद मेरा''—इस प्रकार अपने आत्मस्वभाव की पहिचान करके उसमें एकाग्र होना, वह सिद्धपद का उपाय है। आत्मा की विकारी दशा का नाम संसार है। सिद्ध भगवान जैसा अपना आत्मा है, उसे भूलकर शरीर, वह मैं हूँ और शरीरादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसी जो मिथ्यामान्यता है, वह संसार का मूल है; इसलिये उस मिथ्यात्व को महापाप कहा जाता है। यदि आत्मा का भान करके उस मिथ्यात्व का नाश करे तो अल्पकाल में जीव सिद्ध हुए बिना न रहे।

सिद्धदशा अर्थात् मोक्ष क्या है, उसका उपाय क्या है, उस सम्बन्ध में इस आत्मसिद्धि में कहा है कि—

''मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ।''

आत्मा की पूर्ण शुद्धता, वह मोक्ष है और वह मोक्ष जिससे प्राप्त होता है—ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का उपाय है।

स्वभाव से तो समस्त आत्मा सिद्ध समान हैं; परन्तु अवस्था में सिद्धदशा नवीन प्रगट होती है। यदि अपने स्वभाव का विश्वास करके उसमें एकाग्र हो तो सिद्धदशा प्रगट हो। आत्मसिद्धि में भी कहा है कि—

''सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते (सिद्ध) थाय।''

—इसलिये सिद्ध होने के लिये सर्वप्रथम अपने आत्मस्वभाव की पहिचान करना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्र के पहले ही सूत्र में कहते हैं कि—

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः''—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का

मार्ग है; त्रिकाल किसी भी जीव के लिये यह एक ही मोक्ष का मार्ग है; क्योंकि **''एक होय त्रयकालमां परमारथनो पंथ।''**

❁ ❁ ❁

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने समयसार के प्रारम्भ में ही **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'**—ऐसा कहकर सर्व सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है और आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है। वर्तमान में स्वयं को सिद्धदशा प्रगट नहीं है, तथापि जैसा सामर्थ्य सिद्ध भगवान में है, वैसा ही सामर्थ्य मेरे आत्मा में भी है—ऐसा स्वभाव-सामर्थ्य का विश्वास करके धर्मी जीव अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करते हैं। इसप्रकार कुंदकुंद भगवान के कथनानुसार आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके उसका आदर करते-करते स्वभाव की ओर के उत्साह के बल से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसहित चारित्रदशा प्रगट होने से वे मुनि होते हैं।—ऐसे मुनिवर, मोक्षमार्ग में विचरते हैं।

मुनि होकर अंतरस्वभाव में एकाग्रता का अभ्यास करते-करते, उपयोग को आत्मा में स्थिर करके क्षपकश्रेणी लगाकर चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन-अनंतसुख और अनंतवीर्य—ऐसे चतुष्टय प्रगट करते हैं। इस दशा का वर्णन करते हुए 'अपूर्व अवसर' में कहते हैं कि :—

''चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां
भवनां बीज तणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्वभाव ज्ञातादृष्टा सह शुद्धता
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो।''

—अहो! धन्य है इस दशा को!

ऐसी अरिहंतदशा प्राप्त होने के पश्चात् अल्पकाल में शेष चार अघाति कर्मों का भी अभाव करके जीव सिद्ध होता है और स्वभाव ऊर्ध्वगमन करके एक समय में सिद्धलोक में पहुँच जाता है। जहाँ अनंत सिद्ध भगवंत विराज रहे हैं, वहाँ उन सिद्ध भगवंतों की नगरी में जाकर सादि-अनंतकाल आत्मा के सहजसुख का उपभोग करता रहता है। अहो!

''सादि अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंतदर्शन-ज्ञान अनंत सहित जो।''

—ऐसे सिद्ध भगवंतों को आठों कर्मों का अभाव होता है, तथा अष्ट महागुण प्रगट होते हैं;

उनके शरीर भी नहीं होता। उनको कभी संसार में अवतार नहीं होता; ऐसी की ऐसी सिद्धदशा में वे सदैव वर्तते रहते हैं। उस सिद्धदशा में एक चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थों का सम्बन्ध नहीं होता। बाह्य की कोई भी सामग्री बिना वे अपने स्वभाव से पूर्ण सुखी हैं।

धन्य है उस सहजसुखी सिद्धदशा को!

ऐसी सिद्धदशा प्राप्त करना ही आत्मार्थियों का जीवन-ध्येय है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही सिद्धि का उपाय है।

❁ ❁ ❁

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्रव्यसंग्रह में सिद्ध के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

निष्कर्म्माणः अष्टगुणाः किंचिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यांसंयुक्ता ॥१४॥

सिद्ध जीव कैसे हैं?

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं; सम्यक्त्वादि आठ गुणों सहित हैं; अन्तिम शरीर से कुछ छोटा उनका आकार है; नित्य हैं और उत्पाद-व्यय सहित हैं; और लोक के अग्रभाग में स्थित हैं;—ऐसे सिद्ध जीव हैं।

ऐसे सिद्ध भगवन्त अनंत हैं; और छह महीने आठ समय में जगत में से छह सौ आठ जीव सिद्ध होते ही रहते हैं। उन सिद्ध भगवन्तों में अनंत गुण हैं, परन्तु संक्षेप से आठ मुख्य गुण कहे गये हैं। वे इसप्रकार हैं—(१) क्षायिक-सम्यक्त्व (२) केवलज्ञान (३) केवलदर्शन (४) अनंतवीर्य (५) सूक्ष्मत्व (६) अवगाहनत्व (७) अगुरुलघुत्व और (८) अव्याबाध अनंत सुख। (विस्तृत विवेचन के लिये द्रव्यसंग्रह की १४ वीं गाथा देखें!)

सिद्ध भगवन्तों को अपने स्वभाव से ही परिपूर्ण सुख होता है; कहीं बाह्य सामग्री का सुख नहीं है। सिद्ध भगवान की भाँति किसी भी जीव को बाह्य सामग्री से सुख प्राप्त नहीं होता; अज्ञानी जीव अपनी पर्याय में कल्पना करके पर में सुख मानते हैं; वहाँ कहीं उस परवस्तु में उन्हें सुख का वेदन नहीं होता परन्तु वे अपनी कल्पना का ही वेदन करते हैं। और सिद्ध भगवन्तों को बाह्य सामग्री के बिना अपने आत्मस्वभाव में से उत्पन्न परमार्थसुख है। मोह और राग-द्वेष आकुलता है; आकुलता दुःख है और आकुलता का अभाव, वह सुख है। सिद्ध भगवन्तों के मोह-राग-द्वेश का

सर्वथा अभाव है; इसलिये उनका आत्मा ही सुखस्वरूप हो गया है; उन्हें एकसमय में परिपूर्ण होने से परिपूर्ण सुख है; वह सुख बाह्य विषयों से रहित और अतीन्द्रियस्वभाव से उत्पन्न हुआ है। केवली भगवन्तों के सुख की प्रशंसा करते हुए श्री कुंदकुंदाचार्यदेव कहते हैं कि—

''अत्यंत आत्मोत्पन्न विषयातीत अनुप अनंतने,
विच्छेदहीन छे सुख अहो! शुद्धोपयोग प्रसिद्धने।''

शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए केवली और सिद्ध भगवन्तों का सुख अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत (अतीन्द्रिय), अनुपम, अनंत और अविच्छिन्न है।

अहो! ऐसा सुख सर्वप्रकार से प्रार्थनीय है। जो जीव सिद्ध भगवन्तों के ऐसे सुख को पहिचान ले, वह जीव, इन्द्रिय-विषयों में सुख न माने; आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पर में अपना सुख न माने; परन्तु ''मेरा सुख मेरे स्वभाव में ही है''—ऐसा समझकर, परद्रव्यों से निरपेक्ष होकर स्वभाव का आश्रय करने से अल्पकाल में सिद्ध हो जाये।

❁ ❁ ❁

जो सिद्ध हो गये हैं, वे भी 'आत्मा' हैं। निश्चय से जैसे सिद्ध जीव हैं, वैसे ही सर्व जीव हैं! उनमें और इस जीव के स्वभाव में परमार्थतः कोई अन्तर नहीं है। जो सिद्ध हुए, उन्हें वह सिद्धत्व अपने आत्मा में से ही प्रगट हुआ है; कहीं बाह्य से सिद्धत्व नहीं आया है। जो सिद्ध परमात्मा हो गये हैं, वे भी सिद्ध होने से पूर्व शरीरादि को अपना मानकर राग-द्वेष-मोह से संसार में परिभ्रमण करते थे; पश्चात् दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त करके सत्समागम में किसी धन्य घड़ी में स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट किया और सिद्धसमान अपने शुद्ध चिदानन्द भगवान का अनुभव किया; तब से उन भव्यात्म की परिणति ने अंतरस्वरूप में ही अपना सुख देखा और बहिर विषयों में मेरा सुख नहीं है—ऐसा जानकर वहाँ से उनकी परिणति उदासीन होने लगी।

इसप्रकार बाह्य से उदास होकर अंतरस्वरूप में ढलते-ढलते जब विशेष वीतरागता हुई, तब गृहस्थपना छोड़कर, धन-वस्त्रादि समस्त परिग्रहरहित होकर चारित्रदशा अंगीकार करके मुनि हुए। मुनिदशा में शुद्धात्मा के उग्र ध्यान द्वारा समस्त राग-द्वेष-मोह का नाश करके केवलज्ञान प्रगट हुआ और पश्चात् अल्पकाल में देह छोड़कर वे आत्मा अशरीरी चैतन्यबिम्ब सिद्धपद को प्राप्त हुए।

इस प्रकार भेदज्ञान के फल में उन्हें सिद्धदशा प्रगट हुई। समयसार में कहा है कि—

''भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन''

अर्थात् जो सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही हुए हैं।

जिसप्रकार उस आत्मा ने अपनी शक्ति में से ही सिद्धदशा प्रगट की, उसीप्रकार इस आत्मा में भी सिद्ध होने की शक्ति है। जिसप्रकार लेंडीपीपर के स्वभाव में चरपराहट भरी है; उसी में से चौंसठ पुटी चरपराहट प्रगट होती है; उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव में सिद्ध होने की शक्ति भरी है उसी में से सिद्धदशा प्रगट होती है। सिद्ध भगवन्त इस आत्मा के दर्पण समान हैं। जिसप्रकार स्वच्छ दर्पण में मुँह दिखाई देता है, उसी प्रकार सिद्ध भगवान को पहिचानने से अपने शुद्ध स्वभाव का भान होता है कि—हे आत्मा! जैसे सिद्ध हैं, वैसा ही तेरा स्वभाव है; केवलज्ञानादि जो-जो गुण सिद्ध भगवान को प्रगट हैं, वे सर्व गुण तेरे स्वभाव में भरे हैं, और रागादि जो-जो भाव सिद्ध भगवान में से निकल गये हैं, वे भाव तेरा स्वरूप नहीं है।—इसप्रकार अपने आत्मा का शुद्धस्वरूप पहिचानकर उसमें एकाग्रता द्वारा विकार का अभाव करके जीव अल्पकाल में सिद्धि को प्राप्त होता है और उस सिद्धदशा में लोकालोक में ज्ञाता-दृष्टारूप से रहकर सादि-अनंतकाल जीव अपने स्वभावसुख को भोगता रहता है।

'णमो सिद्धाणं' ...अहो! जो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हुए हैं, उन सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो... **'सिद्धाः सिद्धिं मम दीसन्तु'** वे सिद्ध भगवन्त मुझे सिद्धि दें!

आत्मधर्म की फाइलें

आत्मधर्म की गत वर्षों की प्रत्येक फाइल का मूल ३-१२-० है। परन्तु वर्ष १-२-३, ५-६-७-८—इन सात फाइलों का सेट एक साथ लेने वालों को १७-८-० में दिया जायेगा।

आत्मधर्म के ५० से ६० तक के ग्यारह अंकों की फाइल का मूल्य २-०-० है।

यह सब फाइलें सजिल्द हैं। डाकव्यय अतिरिक्त समझें।

नमूने का अंक बिना मूल्य भेजा जायेगा। तथा आत्मधर्म के ग्राहकों की फाइल में यदि कोई अंक कम होगा तो वह भी मँगाने पर (यदि हमारे स्टाक में होगा तो) बिना मूल्य भेजा जायेगा।

—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
SONGAD

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	=॥)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	मूल में भूल	।।।)
प्रवचनसार हिंदी		मुक्ति का मार्ग	।।=)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	।।)
आत्मावलोकन	१)	अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१।=)	चिद्विलास	१=)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	दसलक्षणधर्म	।।।)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	जैन बालपोथी	।)
समयसार पद्यानुवाद	।)	सम्यक्दर्शन	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=॥)	स्तोत्रत्रयी	।=)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)	भेदविज्ञानसार	२)
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३॥।)	पंचमेरु पूजन	।।।)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये
जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया